



Date: 31-03-23

Women Not In Job Market? It's A Myth

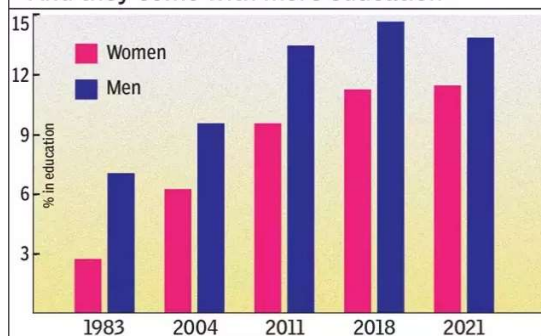
Their labour force participation has increased. And there's a surge in female enrolment in higher education. Wait till those groups come on board.

Surjit S Bhalla & Tirthatanmoy Das, [Bhalla is former Executive Director IMF; Das is Associate Professor, IIM Bangalore.]

WOMEN WITH SKILLS JOIN UP

Proportion of working women keeps rising (%)			
Year	Usual Status	Weekly Status	Weekly Status*
1983	44.4	31.9	34.7
2004	42.7	37.3	43.7
2011	31.2	27.2	36.9
2018	24.5	21.6	33
2021	32.8	27.2	38.7

And they come with more education



Source: NSSO/PLFS data for various years. Note: All data is for age 15 and above. Weekly status* refers to LFPR when education is also considered "work"

In our previous article "A Jobful Economy" we documented the employment results emerging from almost 30 years of NSSO/PLFS survey data on employment (since 2017/18, the PLFS data). No one doubts the success of the Indian growth story in terms of GDP growth – annual per capita growth of 4.5% over 30 odd years, and now expected to be the fastest growing major economy over the next five.

We revisit the PLFS data to examine a prominent misunderstanding, or misinterpretation, about the Indian economy. In particular, questions have been raised about the low female labour force participation rate (FLFPR) in India, especially compared to neighbouring countries like Bangladesh and Sri Lanka. The latter countries have FLFPR in the mid-30s ie, about 35% of working age women work.

In India the PLFS number is in the mid-20s. Why this large gap between comparable countries? Valid question because the socio-cultural environment in the three countries is similar.

Aggregate data doesn't pass smell test

The low FLFPR in India fails the "smell test" or the "duck test". If it walks like a duck, it is a duck. We know that 15% of pilots in India are women – the highest in the world. We also know that according to the World Bank, 42.7% of women in India were STEM graduates in 2018. We also know that more women go to college in India than men. So why is the FLFPR in India so low?

If we go back two decades, NSSO data for 2004/5 did show FLFPR to be 35%. But in 2011/12 this figure had dropped to 26.1% (current weekly status). Why did this happen?

For two reasons – first, the ILO definition changed, and while not mandatory for all statistical agencies to accept the change, India did so. The ILO now said that production towards home consumption (eg care-taking of cattle for milk consumed at home) would no longer be counted as "work for pay or profit".

If the definition had not changed, there would have been an extra 38 million in the female workforce in 2011. The change in definition of work can explain about half of this difference – unpaid family workers declined by 18 million. What explains the other 20 million? They went into education. Both Sri Lanka and Bangladesh had completed the transition to male-female gender equality by 2011.

Education will be the differentiator

The big story – we believe the biggest story – about structural change in India is the enrolment of women in India at all levels of education. The new generation (those between 25 and 30 years today) will cause the LFPR to systematically increase because higher education, all other things being equal, does lead to greater work participation.

Think of the counter-factual – why would a person, after finishing college education, not want to work? To be sure, there is the question of family, and having babies. But wait – Indian women have a fertility rate less than the replacement rate of 2.1 and dropping. And attitudes around the world (and in India) towards childcare are changing.

Three different definitions of LFPR are presented – weekly status, long-term employment (usual status), and weekly LFPR adjusted for education (i. e. you are considered “in work force” if you are attending school). The percentage of men and women enrolled in school (all data for those above 15 years) are also reported.

Three conclusions follow

- First, that there is tremendous catch-up in female enrolment – from two-fifths of male enrolment in 1983 to now 83 %. In the dominant enrolment age group 15-22 years, the ratio is 95%.
- Second, labour force participation rates for women are now equal to, or higher, than the level observed in 2011 (no change in definition 2011 onwards).
- Adjusted weekly status (for all women) is now at 38.7%, some two percentage points above 2011.

The issue of “low” FLFPR for India should be treated as an ex-issue, as an issue which has ceased to be. This increased education and FLFPR for India augurs very well for our growth prospects, which our policy-makers, international organisations and markets, should begin to acknowledge, and recognise.

दैनिक जागरण

Date:31-03-23

समलैंगिक विवाह को वैध बनाने के खतरे

डा. ऋतु सारस्वत, (लेखिका समाजशास्त्र की प्रोफेसर हैं)



समलैंगिक विवाह को कानूनी मान्यता देने की मांग कर रही याचिकाओं का केंद्र सरकार ने सुप्रीम कोर्ट में विरोध किया है। कहा है कि इसकी मान्यता से स्वीकार्य सामाजिक मूल्यों में संतुलन प्रभावित होगा। यकीनन मूल्यों और परंपराओं को दकियानूसी कहने वाला सोच इसे भारत का पिछड़ापन कहेगा, परंतु समलैंगिक विवाह को मान्यता देने पर भविष्य में इसके क्या परिणाम होंगे? यह विचारणीय बिंदु है। परंपरागत रूप से विवाह और संतानोत्पत्ति एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, परंतु एक वर्ग विवाह के प्रजनन अर्थ को खारिज करता है। यह कोई संयोग नहीं कि जिन देशों ने समलैंगिक विवाह को कानूनी मान्यता दी है, वहां सबसे कम प्रजनन दर है। नीदरलैंड, स्वीडन और कनाडा में समलैंगिक विवाह को कानूनी मान्यता है और वहां की जन्म दर प्रति महिला लगभग 1.6 बच्चे हैं, जो 2.1 की प्रतिस्थापन प्रजनन दर से बहुत नीचे है। जनसंख्या

संबंधी अंतरराष्ट्रीय आंकड़े भी यही बता रहे हैं कि जिन दस देशों में अध्ययन के समय समलैंगिक विवाह को अनुमति थी, उनकी प्रजनन दर दुनिया के 193 देशों से कम थी। यहां संभवतः यह तर्क देने का प्रयास किया जाएगा कि कम जन्म दर का कारण विषम-लैंगिक युगलों द्वारा प्रजनन के प्रति घटती रुचि है, परंतु विभिन्न शोध इस तथ्य को इंगित कर रहे हैं कि समलैंगिक विवाह एक जन्म विरोधी मानसिकता को बढ़ावा देता है और हम जानते हैं कि जनसंख्या में गिरावट समाज पर जबरदस्त सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक तनाव डालती है।

समलैंगिक विवाह की पैरवी करने वाले यह तर्क देते हैं कि यद्यपि वे सामान्य रूप से बच्चों को जन्म नहीं दे सकते, परंतु बच्चों को गोद लेकर या शुक्राणु दान से वे अभिभावक बन सकते हैं और बच्चों की बेहतर परवरिश कर सकते हैं। 'नो बेसिस : व्हाट द स्टडी डॉट टेल अस अबाउट सेम-लिंग पैरेंटिंग' नामक शोध उन सभी शोधों पर प्रश्न उठाता है, जो निरंतर यह तथ्य स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं कि समलैंगिकों के बच्चे विषमलैंगिक अभिभावकों के बच्चों से बिल्कुल भिन्न नहीं हैं। 'ए न्यू स्टडी आफ यंग एडल्ट्स कंसीव्ड थ्रू स्पर्म डोनेशन' बताता है कि सामाजिक और आर्थिक सुनिश्चितता के बावजूद भी शुक्राणु दान के माध्यम से जन्म लिए बच्चों में जैविक माता-पिता की संतानों की अपेक्षाकृत मादक द्रव्यों का सेवन, अपराध की ओर झुकाव तथा अवसाद की आशंका अधिक रहती है। वहीं आस्ट्रेलिया में हुए एक अध्ययन में विषमलैंगिक विवाहित जोड़ों के बच्चों की तुलना में समलैंगिक जोड़ों के बच्चों का प्रदर्शन सामाजिक एवं अकादमिक स्तर पर खराब पाया गया। समलैंगिक विवाह के वैधीकरण से उत्पन्न सबसे बड़ी त्रासदी वयस्कों पर नहीं,

बल्कि बच्चों से जुड़ी है। समलैंगिक विवाह यह सिद्ध करने की चेष्टा है कि मातृहीन अथवा पितृहीन बच्चे समाज की वास्तविकता हैं। दुर्भाग्यपूर्ण यह है कि समाज स्वयं जानबूझकर बच्चों के लिए स्थायी रूप से मातृ अथवा पितृहीन परिवारों का विकल्प उपलब्ध करवाकर उनके भविष्य को अंधकार में धकेलने को तत्पर दिखाई दे रहा है।

समलैंगिक विवाह के संदर्भ में एक तर्क यह भी दिया जाता है कि कानूनी मान्यता प्राप्त होने पर ऐसे युगलों के संबंध कहीं अधिक स्थिर होंगे। हालांकि मैसाचुसेट्स के अध्ययन में पाया गया कि केवल एक साल या उससे कम में ही उन्होंने अपने रिश्ते को तोड़ने की बात की। स्वीडन में पुरुषों की साझेदारी में तलाक का जोखिम विषमलैंगिक विवाह से संबंधित जोखिम की तुलना में 50 प्रतिशत अधिक दिखाई दिया। यदि समलैंगिक साझेदारी की अस्थिर प्रकृति विवाह के आदर्श का हिस्सा बन जाती है तो यह समाज की सामान्य विवाह पद्धति को गंभीर रूप से प्रभावित करेगी। समलैंगिक संबंधों की पैरवी करने वालों का यह तर्क हो सकता है कि समाज के हित के लिए हम अपने व्यक्तिगत चुनाव का त्याग क्यों करें। एक क्षण को उनके इस विचार को स्वीकार कर भी लिया जाए तो भी उन्हें उन तथ्यों से परिचित होना जरूरी है जिससे किंचित वे अपरिचित हैं। 'होमोसेक्सुअलिटी एंड द पालिटिक्स आफ ड्रुथ' के लेखक डा. जे. सतीनोवर बताते हैं कि समलैंगिक अपने जीवन में 25 से 30 वर्ष गानरिया (यौन संसर्ग से उत्पन्न रोग), सिफलिस, एड्स, आंत्र संक्रमण तथा अन्य यौन संचारित रोगों से ग्रस्त रहते हैं। 'इंटरनेशनल जर्नल आफ एपिडेमियोलॉजी' में प्रकाशित शोध बताता है कि अन्य पुरुषों की तुलना में समलैंगिक और उभयलिंगी पुरुषों की जीवन प्रत्याशा कम रहने की आशंका रहती है। यूएस सेंटर फार डिजीज कंट्रोल एंड प्रिवेंशन के 2010 के अनुसार समलैंगिक पुरुषों में अन्य की तुलना में नवीन एचआइवी के लक्षण की दर 44 प्रतिशत अधिक थी। वहीं महिलाओं के साथ यौन संबंध रखने वाली महिलाओं में बैक्टीरियल जिनोसिस, हेपेटाइटिस सी और एचआइवी जोखिम व्यवहार की उच्च दर पाई गई है। जिन महिलाओं के बच्चे नहीं हुए हैं या जिन्होंने स्तनपान नहीं कराया, उनमें इसके आसार और अधिक हो जाते हैं। वहीं, शारीरिक ही नहीं, समस्याएं मनोरोगों की भी हैं। 'नीदरलैंड्स मेंटल हेल्थ सर्वे एंड इंसिडेंस स्टडी' में कहा गया है कि समान लिंग यौन व्यवहार करने वाले लोगों को मनोरोग विकारों के लिए अधिक जोखिम होता है।

इसलिए यह जरूरी है कि समलैंगिक जीवन की विशिष्टताओं के कारण उनके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के खतरों से उन्हें बचाया और चेताया जाए, न कि समलैंगिक विवाह जैसे मुद्दों पर बहस को प्राथमिकता देकर नई सामाजिक एवं सांस्कृतिक चुनौतियों को आमंत्रित किया जाए।

बिज्ञनेस स्टैंडर्ड

Date:31-03-23

हरियाली की दीवार

संपादकीय

कई वर्षों तक चली चर्चाओं के पश्चात आखिरकार सरकार ने गुजरात, राजस्थान, हरियाणा और दिल्ली तक विस्तारित अरावली पर्वत श्रृंखलाओं में पांच किलोमीटर चौड़ी हरियाली की पट्टी बनाने की भव्य परियोजना शुरू कर दी है। ऐसा

भूमि के मरुस्थलीकरण और अपघटन से निपटने के लिए किया जा रहा है। अरावली को दुनिया की सबसे पुरानी पर्वत श्रृंखलाओं में गिना जाता है और उसे कई मायनों में राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र यानी एनसीआर की जीवन रेखा तथा थार मरुस्थल एवं पश्चिमोत्तर के उर्वर मैदानों के बीच का प्राकृतिक बफर क्षेत्र भी माना जाता है।

इसे उचित ही अरावली ग्रीन वॉल का नाम दिया गया है तथा यह वनाच्छादित क्षेत्र न केवल भूमि अपघटन की समस्या से निपटने, जैव विविधता का संरक्षण करने तथा जलवायु परिवर्तन को कम करने संबंधी देश की कई अंतरराष्ट्रीय प्रतिबद्धताओं से निपटने के काम आएगा बल्कि इसके पारिस्थितिकी से जुड़े कई लाभ भी होंगे। बहरहाल इस परियोजना से वांछित लाभ प्राप्त होने की संभावना काफी हद तक इस बात पर निर्भर है कि सरकार अवैध खनन, अचल संपत्ति माफिया के अतिक्रमण तथा पहाड़ी इलाकों में होने वाले अन्य अवैध खनन को कितने प्रभावी ढंग से रोक पाती है। दिलचस्प बात यह है कि इस परियोजना की शुरुआत वन एवं पर्यावरण मंत्री भूपेंद्र यादव ने गुरुग्राम के निकट टिकली नामक गांव में एक पौधा लगाकर की। यह हरियाणा का वह इलाका है जो भू-कानूनों के उल्लंघन के लिए जाना जाता है।

अरावली ग्रीन बेल्ट बनाने का विचार संभवतः अफ्रीका की ग्रेट ग्रीन वॉल से आया है जिसे अफ्रीका के 11 देश मिलकर तैयार कर रहे हैं ताकि सहल इलाके का मरुस्थलीकरण कम किया जा सके और सहारा रेगिस्तान का विस्तार रोका जा सके। इसके अलावा उनका लक्ष्य जल संरक्षण को बढ़ावा देने और समूचे उत्तरी अफ्रीका में जमीन के उपयोग में सुधार करने का भी है। इसी प्रकार अरावली परियोजना भी वर्षा जल संरक्षण और भूजल स्तर में सुधार के लिए काम करेगी। खासतौर पर एनसीआर में ऐसा किया जाएगा जहां जल स्तर अत्यधिक नीचे जा चुका है। इसकी वजह से कुछ इलाकों में जमीन धसकने की घटनाएं भी घट रही हैं। इसके अलावा यह इलाका थार मरुस्थल से धूल उठने की घटनाओं पर भी लगाम लगाएगा जिसके चलते दिल्ली में वायु प्रदूषण फैलता है। यह हरित पट्टी शायद पूरी तरह निरंतरता में न बने लेकिन यह कुछ ऐसे इलाकों को शामिल करेगी जहां हरियाली की बहुत अधिक आवश्यकता है तथा जिन्हें खनन आदि से भी बचाने की आवश्यकता है।

गुजरात, राजस्थान और दिल्ली में इस परियोजना के दायरे में आने वाली 63 लाख हेक्टेयर जमीन में से 23 लाख हेक्टेयर जमीन अभी खराब जमीन की श्रेणी में आती हैं। भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन ने सैटेलाइट के जरिये मरुस्थलीकरण और जमीन के खराब स्तर को लेकर जो मानचित्र तैयार किया है उसके मुताबिक इन राज्यों का 50 फीसदी से अधिक हिस्सा अलग-अलग स्तरों पर जमीन की गुणवत्ता में गिरावट का शिकार है। इन इलाकों में हरियाली बढ़ाने से 2.5 अरब टन का अतिरिक्त कार्बन सिंक तैयार करने में मदद मिलेगी। साथ ही 2030 तक 2.6 करोड़ हेक्टेयर इलाके का वनीकरण करने और जमीन की गुणवत्ता सुधारने में भी मदद मिलेगी।

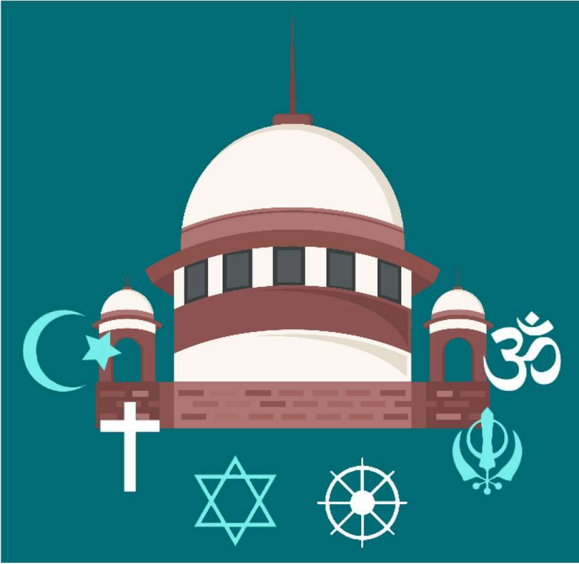
महत्वपूर्ण बात यह है कि अरावली ग्रीन वॉल योजना के कृषि-वानिकी और चारागाह विकास जैसे भाग में स्थानीय वृक्ष, झाड़ियां और घास लगाने की बात शामिल है ताकि वे बचे रह सकें और स्थानीय समुदायों को आजीविका में बेहतर सहारा मिल सके। परियोजना में सतह पर मौजूद जल संरचनाओं और नदियों के जल भराव क्षेत्र को नए सिरे से बेहतर बनाने की बात शामिल है। इन नदियों में बनास, साहिबी और लूनी शामिल हैं जो अरावली के पहाड़ों से ही निकलती हैं और कच्छ के रन के पारिस्थितिकी और सामरिक दृष्टि से अहम इलाके में बहती हैं जो पाकिस्तान की सीमा से लगा हुआ है। बहरहाल, सरकार को राज्य सरकारों, शोध संस्थाओं, सामाजिक नागरिक संस्थानों का सहयोग और सक्रियता प्राप्त करने के लिए विशेष प्रयास करने होंगे। सबसे अहम बात यह है कि उसे स्थानीय समुदायों की मदद लेनी होगी ताकि पौधरोपण की देखभाल की जा सके और इस महत्वाकांक्षी परियोजना से सतत लाभ हासिल हो सके।

राष्ट्रीय सहारा

Date:31-03-23

खतरनाक घालमेल

संपादकीय



सुप्रीम कोर्ट का यह कहना सबकी आंखें खोल देने वाला है कि जब राजनीति और धर्म अलग हो जाएंगे और नेता धर्म के जरिए राजनीति में ऊंचे मुकाम हासिल करने का खवाब छोड़ देंगे तभी हेट स्पीच को खत्म किया जा सकता है। हेट स्पीच को दुष्चक्र बताते हुए कोर्ट ने कहा कि इससे फायदा उठाने के प्रयास में छोटी मानसिकता के लोग ऐसे-ऐसे भाषण देते हैं जिनसे हालात में तनाव के सिवा कुछ हासिल नहीं होता। कोर्ट की टिप्पणियां नफरती भाषण देने वालों के खिलाफ प्राथमिकी दर्ज करने में विफल रहने को लेकर राज्यों के खिलाफ अवमानना याचिका पर सुनवाई के दौरान सामने आई। कोर्ट ने कहा लोगों को खुद को संयमित रखना चाहिए। वे दूसरे समुदायों को अपमानित न करने का संकल्प क्यों नहीं ले सकते। एक याचिकाकर्ता के वकील ने जस्टिस केएम जोसेफ की अध्यक्षता वाली बेंच के सामने महाराष्ट्र में कई रैलियों में दिए गए

नफरती भाषणों के संबंध में एक समाचार रिपोर्ट का हवाला दिया था। इस पर सॉलिसिटर जनरल तुषार मेहता ने समाचार रिपोर्टों के आधार पर याचिका दायर करने पर आपत्ति की। इस पर बेंच ने कहा कि हम समझते हैं कि क्या हो रहा है। तब सॉलिसिटर जनरल ने कहा, कि याचिकाकर्ता को सभी धर्मों में नफरत फैलाने वाले भाषणों को इकट्ठा करने और समान कार्रवाई के लिए अदालत के समक्ष रखने का निर्देश दिया जाए। सॉलिसिटर जनरल जैसे ऊंचे स्तर से याचिकाकर्ता जैसे व्यक्ति से ऐसी अपेक्षा न्यायसंगत नहीं लगती। यह काम तो पूरी तरह सरकारों का है कि ऐसी घटनाओं पर नजर रखें और आवश्यक कार्रवाई करें। इसी कर्तव्य का निर्वहन करते हुए बेंच ने पूछा कि प्राथमिकी दर्ज करने के बाद क्या कार्रवाई की गई। कहा कि शिकायत दर्ज करने से अभद्र भाषा की समस्या का समाधान नहीं होने वाला। तब सॉलिसिटर जनरल ने कहा कि नफरत भरे भाषणों के संबंध में 18 प्राथमिकी दर्ज की गई हैं। पिछले साल अक्टूबर में सुप्रीम कोर्ट ने जोर देकर कहा था कि संविधान भारत को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में देखता है, और दिल्ली, उत्तर प्रदेश और उत्तराखंड सरकारों को अभद्र भाषा के मामलों पर सख्त कार्रवाई करने और शिकायत की प्रतीक्षा किए बिना दोषियों के खिलाफ मामले दर्ज करने का निर्देश दिया था। सरकारों को ऐसे मामलों में तुरंत और कड़ी कार्रवाई करनी चाहिए।

कड़ाई पर चिंता

संपादकीय

देश के सर्वोच्च न्यायालय की ओर से एक सलाह या राय आई है कि विधायकों और सांसदों को सजा सुनाने के मामले में निचली अदालतों को सावधान रहना चाहिए। दरअसल, सांसद और विधायक को दो साल या उससे अधिक की सजा होते ही सदस्यता से हाथ धोना पड़ता है। सर्वोच्च न्यायालय की यह राय लक्षद्वीप के सांसद मोहम्मद फैजल के मामले में सामने आई है। फैजल को कोर्ट से राहत मिली है और सदस्यता भी बहाल हुई है, पर क्या राहुल गांधी की भी बहाल होगी? आज यही सवाल ज्यादा चर्चा में है। न्यायमूर्ति जोसेफ और न्यायमूर्ति नागरत्ना की पीठ ने लक्षद्वीप के सांसद मोहम्मद फैजल व केंद्र शासित प्रदेश लक्षद्वीप की ओर से दायर याचिकाओं पर सुनवाई करते हुए यह बात कही है। हालांकि, ध्यान देने की बात है कि मोहम्मद फैजल को हत्या की कोशिश के मामले में 10 साल कैद की सजा सुनाई गई थी और उसके बाद ही उनकी सदस्यता गई थी, जबकि राहुल गांधी को तो मानहानि के मामले में दो साल की सजा सुनाए जाने के बाद ही सदस्यता से हाथ धोना पड़ा है और उन्हें अब सरकारी बंगले से भी निकलना पड़ रहा है।

ध्यान रहे, अतिरिक्त सॉलिसिटर जनरल के एम नटराज ने अदालत को बताया कि जन-प्रतिनिधित्व कानून की धारा 8(3) के मुताबिक, यदि किसी सांसद अथवा विधायक को दो या उससे ज्यादा साल की सजा होती है, तो उसकी सदस्यता स्वतः तत्काल चली जाती है। इसमें कोई शक नहीं कि फैजल अहमद या राहुल गांधी के साथ जो हुआ है, वह कानून के तहत ही हुआ है। यह भी ध्यान देने की बात है कि पहले जब आपराधिक किस्म के सांसदों पर कार्रवाई नहीं होती थी, तब अदालत की नाराजगी सामने आती थी, पर अब अदालत की कृपा से ही जब कड़ा कानून है और उसे लागू किया जा रहा है, तब नरमी की जरूरत बताई जा रही है। यह एक तरह से विडंबना है। कड़े कानून होने के फायदे भी हैं और नुकसान भी। यह भी सही है कि अगर कड़े कानून न हों, तो अपराधियों में भय नहीं होगा और किसी भी रसूखदार को सजा देने में परेशानी आएगी। लेकिन अब जो सर्वोच्च न्यायालय की सलाह है, उसे किस तरह से लागू किया जाएगा, यह एक बड़ा प्रश्न है। कहीं ऐसा न हो कि उदारता बरतने की नसीहत फिर दागियों का पोषण करने लग जाए!

निचली अदालतों में कानून सम्मत अधिकतम सजा देने की परंपरा है और यह कतई गलत नहीं है। अनेक मामलों में निचली अदालतों ने नरमी बरती है और ऊपरी अदालतों में उनकी खूब आलोचना भी हुई है। अतः अदालतें इस बात पर पूरी तरह सहमत हैं कि रसूखदार और आम आदमी पर कार्रवाई के मामले में भेदभाव नहीं बरता जाना चाहिए। न्याय किसी गरीब या शोषित के लिए उदार हो सकता है, लेकिन किसी रसूखदार या अपराधी के लिए उसे कतई उदार नहीं होना चाहिए। कहीं न कहीं हमारा कानून उदार है, तभी तो दागी पृष्ठभूमि के सैकड़ों नेता विधानसभाओं और संसद में बैठे हैं। दागियों की संख्या किसी को भी विचलित कर देती है। अपराधियों के साथ सही ढंग से न्याय हो, तो उनमें से कोई भी चुनाव लड़ने तक की योग्यता नहीं जुटा सकेगा। वस्तुतः एक न्यायाधीश की सलाह को उनकी निजी सलाह के

रूप में ही लेना ज्यादा बेहतर है, क्योंकि अभी इस मामले में सुनवाई जारी है। क्या अंतिम फैसले में भी सांसदों-विधायकों को सजा देते हुए सावधानी बतरने की बात होगी, इसका इंतजार करना चाहिए।
